।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अध्याय तीन में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने आश्वस्त किया था कि दोषदृष्टि से रहित होकर जो भी मानव श्रद्धायुक्त हो मेरे मत के अनुसार चलेगा, वह कर्मों के बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। कर्मबन्धन से मुक्ति दिलाने की क्षमता योग (ज्ञानयोग या कर्मयोग, दोनों) में है। योग में ही युद्ध-संचार निहित है। प्रस्तुत अध्याय में वे बताते हैं कि इस योग का प्रणेता कौन है? इसका क्रमिक विकास कैसे होता है?

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अर्जुन! मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में विवस्वान् (सूर्य) के प्रति कहा, विवस्वान् ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। किसने कहा? मैंने। श्रीकृष्ण कौन थे? एक योगी। तत्त्वस्थित महापुरुष ही इस अविनाशी योग को कल्प के आरम्भ में अर्थात् भजन के आरम्भ में विवस्वान् अर्थात् जो विवश हैं, ऐसे प्राणियों से कहता है। सुरा में संचार कर देता है। यहाँ सूर्य एक प्रतीक है; क्योंकि सुरा में ही वह परम प्रकाश स्वरूप है और वहीं उसके पाने का विधान है। वास्तविक प्रकाशदाता (सूर्य) वही है।

यह योग अविनाशी है। श्रीकृष्ण ने कहा था कि इसमें आरम्भ का नाश नहीं होता। इस योग का आरम्भ भर कर दें तो यह पूर्णत्व दिलाकर ही शान्त होता है। शरीर का कल्प औषधियों द्वारा होता है; किन्तु आत्मा का भजन से होता है। भजन का आरम्भ ही आत्म-कल्प का आदि है। यह साधन-भजन

भी किसी महापुरुष की ही देन है। मोहनिशा में अचेत आदिम मानव, जिसमें भजन का कोई संस्कार नहीं है, योग के विषय में जिसने कभी सोचा तक नहीं, ऐसा मनुष्य किसी महापुरुष को देखता है तो उनके दर्शनमात्र से, उनकी वाणी से, टूटी-फूटी सेवा और सान्निध्य से योग के संस्कार उसमें संचारित हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी इसी को कहते हैं- **'जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे।', 'ते सब भये परम पद जोगू।' (रामचरितमानस, २/२१६/१-२)।**

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह योग मैंने आरम्भ में सूर्य से कहा। **'चक्षोः सूर्यो अजायत'** महापुरुष के दृष्टि-निक्षेप मात्र से योग के संस्कार सुरा में प्रसारित हो जाते हैं। स्वयंप्रकाश, स्ववश परमेश्वर का निवास सबके हृदय में है। सुरा (श्वास) के निरोध से ही उसकी प्राप्ति का विधान है। सुरा में संस्कारों का सृजन ही सूर्य के प्रति कहना है। समय आने पर यह संस्कार मन में स्फुरित होगा, यही सूर्य का मनु से कहना है। मन में स्फुरित होने पर महापुरुष के उस वाक्य के प्रति इच्छा जाग्रत हो जायेगी। यदि मन में कोई बात है तो उसे पाने की इच्छा अवश्य होगी, यही मनु का इक्ष्वाकु से कहना है। लालसा होगी कि वह नियत कर्म करें जो अविनाशी है, जो कर्म-बन्धन से मोक्ष दिलाता है- ऐसा है तो किया जाय और आराधना गति पकड़ लेती है। गति पकड़कर यह योग कहाँ पहुँचाता है? इस पर कहते हैं-

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।२।।

इस प्रकार किसी महापुरुष द्वारा संस्काररहित पुरुषों की सुरा में, सुरा से मन में, मन से इच्छा में और इच्छा तीव्र होकर क्रियात्मक आचरण में ढलकर यह योग क्रमशः उत्थान करते-करते राजर्षि श्रेणी तक पहुँच जाता है, उस अवस्था में जाकर विदित होता है। इस स्तर के साधक में ऋद्धियों-सिद्धियों का संचार होता है। वह योग इस महत्त्वपूर्णकाल में इसी लोक (शरीर) में प्रायः नष्ट हो जाता है। इस सीमा रेखा को कैसे पार किया जाय? क्या इस विशेष स्थल पर पहुँचकर सभी नष्ट हो जाते हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं-

नहीं, जो मेरा आश्रित है, मेरा प्रिय भक्त है, अनन्य सखा है, वह नष्ट नहीं होता-

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है; क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है और यह योग उत्तम, रहस्यपूर्ण है। अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का साधक था, राजर्षि की अवस्थावाला था, जहाँ ॠद्धियों-सिद्धियों के थपेड़े में साधक नष्ट हो जाता है। इस काल में भी योग कल्याण की मुद्रा में ही है; किन्तु प्रायः साधक यहाँ पहुँचकर लड़खड़ा जाते हैं। ऐसा अविनाशी किन्तु रहस्यमय योग श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, क्योंकि नष्ट होने की अवस्था में अर्जुन था ही। क्यों कहा? इसलिए कि तू मेरा भक्त है, अनन्य भाव से मेरे आश्रित है, प्रिय है, सखा है।

अध्याय के आरंभ में भगवान ने बताया कि इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में मैंने ही सूर्य से कहा था। सूर्य से मनु को यही गीता प्राप्त हुई। मनु ने इसे अपनी स्मृति (याददाश्त) में सँजोया। मनु से यही स्मृति इक्ष्वाकु को मिली जिसे राजर्षियों ने जाना; किन्तु इस महत्वपूर्ण काल से वह योग लुप्त हो गया था। उसी पुरातन स्मृति-ज्ञान को भगवान ने अर्जुन से कहा। सारांशतः मनु को जिस ज्ञान की प्राप्ति हुई थी वही यह गीता है। मनु को यही विरासत में मिला था। इसके अतिरिक्त किस स्मृति को वे धारण करते। गीता-ज्ञान श्रवण के पश्चात् अठारहवें अध्याय के अन्त में अर्जुन ने कहा कि मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, जैसे मनु को प्राप्त हुई थी। अस्तु, यह श्रीमद्भगवद्गीता ही विशुद्ध मनुस्मृति है।

जिस परमात्मा की हमें चाह है, वह (सद्गुरु) परमात्मा आत्मा से अभिन्न होकर जब निर्देशन देने लगे, तभी वास्तविक भजन आरम्भ होता है। यहाँ प्रेरक की अवस्था में परमात्मा और सद्गुरु एक दूसरे के पर्याय हैं। जिस सतह पर हम खड़े हैं, उसी स्तर पर जब स्वयं प्रभु हृदय में उतर आयें, रोकथाम करने लगें, डगमगाने पर सँभालें, तभी मन वश में हो पाता है-

''मन बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजे।'' (विनयपत्रिका, ८९) जब तक इष्टदेव रथी होकर, आत्मा से अभिन्न होकर प्रेरक के रूप में खड़े नहीं हो जाते, तब तक सही मात्रा में प्रवेश ही नहीं होता। वह साधक प्रत्याशी अवश्य है, लेकिन भजन उसके पास कहाँ?

पूज्य गुरुदेव भगवान कहा करते थे- ''हो! हम कई बार नष्ट होते-होते बच गये। भगवान ने ही बचा लिया। भगवान ने ऐसे समझाया, यह कहा।'' हमने पूछा, ''महाराज जी! क्या भगवान भी बोलते हैं, बातचीत करते हैं? बोले- ''हाँ हो! भगवान ऐसे बतियावत हैं जैसे हम-तुम बतियाईं, घण्टों बतियाईं और क्रम न टूटे।'' हमें उदासी हुई और आश्चर्य भी कि भगवान कैसे बोलते होंगे, यह तो बड़ी नयी बात है। कुछ देर बाद महाराज जी बोले- ''काहे घबड़ात है! तोहूँसे बतियैहैं।'' अक्षरशः सत्य था उनका कथन और यही सख्यभाव है। सखा की तरह वे निराकरण करते रहें, तभी इस नष्ट होने वाली स्थिति से साधक पार हो पाता है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने किसी महापुरुष द्वारा योग का आरम्भ, उसमें आनेवाले व्यवधान, उनसे पार पाने का रास्ता बताया। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

भगवन्! आपका जन्म तो **'अपरम्'-** अब हुआ है और मेरे अन्दर सुरा का संचार बहुत पुराना है, तो मैं कैसे मान लूँ कि इस योग को भजन के आदि में आपने ही कहा था? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज बोले-

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।५।।

अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। हे परंतप! उन सबको तू नहीं जानता; किन्तु मैं जानता हूँ। साधक नहीं जानता, स्वरूपस्थ महापुरुष

जानता है, अव्यक्त की स्थितिवाला जानता है। क्या आप सबकी तरह पैदा होते हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, स्वरूप की प्राप्ति शरीर-प्राप्ति से भिन्न है। मेरा जन्म इन आँखों से नहीं देखा जा सकता। मैं अजन्मा, अव्यक्त, शाश्वत होते हुए भी शरीर के आधारवाला हूँ।

अवधू जीवत में कर आसा।
मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा।।

शरीर के रहते ही उस परमतत्त्व में प्रवेश पाया जाता है। लेशमात्र भी कमी है, जन्म लेना पड़ता है। अभी तक अर्जुन श्रीकृष्ण को अपने समान देहधारी समझता है। वह अन्तरंग प्रश्न रखता है - क्या आपका जन्म वैसा ही है, जैसा सबका है। क्या आप भी शरीरों की तरह पैदा होते हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६।।

मैं विनाशरहित, पुनः जन्मरहित और समस्त प्राणियों के स्वर में संचारित होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके आत्ममाया से प्रकट होता हूँ। एक माया तो अविद्या है जो प्रकृति में ही विश्वास दिलाती है, नीच एवं अधम योनियों का कारण बनती है। दूसरी माया है आत्ममाया, जो आत्मा में प्रवेश दिलाती है, स्वरूप के जन्म का कारण बनती है। इसी को योगमाया भी कहते हैं। जिससे हम विलग हैं उस शाश्वत स्वरूप से यह जोड़ती है, मिलन कराती है। उस आत्मिक प्रक्रिया द्वारा मैं अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को अधीन करके ही प्रकट होता हूँ।

प्रायः लोग कहते हैं कि भगवान का अवतार होगा तो दर्शन कर लेंगे। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा कुछ नहीं होता कि कोई दूसरा देख सके। स्वरूप का जन्म पिण्डरूप में नहीं होता। श्रीकृष्ण कहते हैं - योग-साधना द्वारा, आत्ममाया द्वारा अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को स्ववश करके मैं क्रमशः प्रकट होता हूँ। लेकिन किन परिस्थितियों में?-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे अर्जुन! जब-जब परमधर्म परमात्मा के लिए हृदय ग्लानि से भर जाता है, जब अधर्म की वृद्धि से भाविक पार पाते नहीं देखता, तब मैं आत्मा को रचने लगता हूँ। ऐसी ही ग्लानि मनु को हुई थी-

हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।।

(रामचरितमानस, १/१४२)

जब आपका हृदय अनुराग से पूरित हो जाय, उस शाश्वत धर्म के लिए **'गदगद गिरा नयन बह नीरा'** की स्थिति आ जाय, जब प्रयत्न करके भी अनुरागी अधर्म का पार नहीं पाता - ऐसी परिस्थिति में मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ। अर्थात् भगवान का आविर्भाव केवल अनुरागी के लिए है- **सो केवल भगतन हित लागी। (रामचरितमानस, १/१२/५)**

यह अवतार किसी भाग्यवान् साधक के अन्तराल में होता है। आप प्रकट होकर करते क्या हैं?-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।८।।

अर्जुन! **'साधूनां परित्राणाय'**- परमसाध्य एकमात्र परमात्मा है, जिसे साध लेने पर कुछ भी साधना शेष नहीं रह जाता। उस साध्य में प्रवेश दिलाने वाले विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि दैवी सम्पद् को निर्विघ्न प्रवाहित करने के लिए तथा **'दुष्कृताम्'**- जिससे दूषित कार्यरूप लेते हैं, उन काम, क्रोध, राग, द्वेषादि विजातीय प्रवृत्तियों को समूल नष्ट करने के लिए तथा धर्म को भली प्रकार स्थिर करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

युग का तात्पर्य सत्ययुग, त्रेता, द्वापर नहीं, युगधर्मों का उतार-चढ़ाव मनुष्यों के स्वभाव पर है। युगधर्म सदैव रहे हैं। मानस में संकेत है-

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे।।

(रामचरितमानस, ७/१०३ख/१)

युगधर्म सभी के हृदय में नित्य होते रहते हैं। अविद्या से नहीं बल्कि विद्या से, राममाया की प्रेरणा से हृदय में होते हैं। जिसे प्रस्तुत श्लोक में आत्ममाया कहा गया है, वही है राममाया। हृदय में राम की स्थिति दिला

देनेवाली, राम से प्रेरित है वह विद्या। कैसे समझा जाय कि अब कौन-सा युग कार्य कर रहा है, तो '**सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।''(मानस, ७/१०३ख/२)** जब हृदय में शुद्ध सत्त्वगुण ही कार्यरत हो, राजस तथा तामस दोनों गुण शान्त हो जायँ, विषमताएँ समाप्त हो गई हों, जिसका किसी से द्वेष न हो, विज्ञान हो अर्थात् इष्ट से निर्देशन लेने और उस पर टिकने की क्षमता हो, मन में प्रसन्नता का पूर्ण संचार हो - जब ऐसी योग्यता आ जाय, तो सत्युग में प्रवेश मिल गया। इसी प्रकार दो अन्य गुणों का वर्णन किया और अन्त में-

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा।।

(रामचरितमानस, ७/१०३ख/५)

तामस गुण भरपूर हो, किंचित् राजसी गुण भी उसमें हों, चारों ओर वैर और विरोध हो तो ऐसा व्यक्ति कलियुगीन है। जब तामसी गुण कार्य करता है तो मनुष्य में आलस्य, निद्रा, प्रमाद का बाहुल्य होता है। वह कर्तव्य जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, निषिद्ध कर्म जानते हुए भी उससे निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार युगधर्म का उतार-चढ़ाव मनुष्यों की आन्तरिक योग्यता पर निर्भर है। किसी ने इन योग्यताओं को चार युग कहा है तो कोई इन्हें ही चार वर्ण का नाम देता है, तो कोई इन्हें ही अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट चार श्रेणी के साधक कहकर सम्बोधित करता है। प्रत्येक युग में इष्ट साथ देते हैं। हाँ, उच्चश्रेणी में अनुकूलता की भरपूरता प्रतीत होती है, निम्न युगों में सहयोग क्षीण प्रतीत होता है।

संक्षेप में श्रीकृष्ण कहते हैं कि साध्य वस्तु दिलानेवाले विवेक, वैराग्य इत्यादि को निर्विघ्न प्रवाहित करने के लिए तथा दूषण के कारक काम-क्रोध, राग-द्वेष इत्यादि का पूर्ण विनाश करने के लिए, परमधर्म परमात्मा में स्थिर रखने के लिए मैं युग-युग में अर्थात् हर परिस्थिति, हर श्रेणी में प्रकट होता हूँ-बशर्ते कि ग्लानि हो। जब तक इष्ट समर्थन न दें, तब तक आप समझ ही नहीं सकेंगे कि विकारों का विनाश हुआ अथवा अभी कितना शेष है? प्रवेश से पराकाष्ठापर्यन्त इष्ट हर श्रेणी में हर योग्यता के साथ रहते हैं। उनका प्राकट्य अनुरागी के हृदय में होता है। भगवान प्रकट होते हैं, तब तो

सभी दर्शन करते होंगे? श्रीकृष्ण कहते हैं, नहीं-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

अर्जुन! मेरा वह जन्म अर्थात् ग्लानि के साथ स्वरूप की रचना तथा मेरा कर्म अर्थात् दुष्कृतियों के कारणों का विनाश, साध्य वस्तु को दिलानेवाली क्षमताओं का निर्दोष संचार, धर्म की स्थिरता, यह कर्म और जन्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, लौकिक नहीं है। इन चर्मचक्षुओं से उसे देखा नहीं जा सकता। मन, बुद्धि से उसे मापा नहीं जा सकता। जब इतना गूढ़ है, तो उसे देखता कौन है? केवल **'यो वेत्ति तत्त्वतः'**- तत्त्वदर्शी ही मेरे इस जन्म और कर्म को देखता है और मेरा साक्षात् करके वह पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता, बल्कि मुझे प्राप्त होता है।

जब तत्त्वदर्शी ही भगवान के जन्म और कार्य देख पाता है तो लोग लाखों की संख्या में भीड़ लगाये क्यों खड़े हैं कि कहीं अवतार होगा तो दर्शन करेंगे? क्या आप तत्त्वदर्शी हैं? महात्मा-वेष में आज भी विविध तरीकों से, मुख्यतः महात्मा-वेष की आड़ में बहुत से लोग प्रचार करते फिरते हैं कि वे अवतार हैं या उनके दलाल प्रचार कर देते हैं। लोग भेड़ की तरह अवतार को देखने टूट पड़ते हैं; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि केवल तत्त्वदर्शी ही देख पाता है। अब तत्त्वदर्शी किसे कहते हैं?

अध्याय २ में सत्-असत् का निर्णय देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया था कि, अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का तीनों कालों में कभी अभाव नहीं है। तो क्या आप ऐसा कहते हैं? उन्होंने बताया- ''नहीं, तत्त्वदर्शियों ने इसे देखा।'' न किसी भाषाविद् ने देखा, न किसी समृद्धिशाली ने देखा। यहाँ पुनः बल देते हैं कि मेरा आविर्भाव तो होता है लेकिन उसे तत्त्वदर्शी ही देख पाता है। तत्त्वदर्शी एक प्रश्न है। ऐसा कुछ नहीं कि पाँच तत्त्व हैं, पचीस तत्त्व हैं - इनकी गणना सीख ली और हो गये तत्त्वदर्शी। श्रीकृष्ण ने आगे बताया कि आत्मा ही परम तत्त्व है। आत्मा परम से संयुक्त होकर परमात्मा हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार करनेवाला ही इस

आविर्भाव को समझ पाता है। सिद्ध है कि अवतार किसी विरही अनुरागी के हृदय में होता है। आरम्भ में उसे वह समझ नहीं पाता कि हमें कौन संकेत देता है? कौन मार्ग-दर्शन करता है? किन्तु परमतत्त्व परमात्मा के दर्शन के साथ ही वह देख पाता है, समझ पाता है और फिर शरीर को त्यागकर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।

श्रीकृष्ण ने कहा कि मेरा जन्म दिव्य है, इसे देखनेवाला मुझे प्राप्त होता है, तो लोगों ने उनकी मूर्ति बना ली, पूजा करने लगे, आकाश में कहीं उनके निवास की कल्पना कर ली। ऐसा कुछ नहीं है। उन महापुरुष का आशय केवल इतना था कि यदि आप निर्धारित कर्म करें, तो पायेंगे कि आप भी दिव्य हैं। आप जो हो सकते हैं, वह मैं हो गया हूँ। मैं आपकी संभावना हूँ, आपका ही भविष्य हूँ। अपने भीतर आप जिस दिन ऐसी पूर्णता पा लेंगे तो आप भी वही होंगे, जो श्रीकृष्ण हैं। जो श्रीकृष्ण का स्वरूप है, वही आपका भी हो सकता है। अवतार कहीं बाहर नहीं होता। हाँ, यदि अनुरागपूरित हृदय हो, तो आपके भीतर भी अवतार की अनुभूति सम्भव है। वे आपको प्रोत्साहित करते हैं कि बहुत से लोग इस मार्ग पर चलकर मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं-

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

राग और विराग, दोनों से परे वीतराग तथा इसी प्रकार भय-अभय, क्रोध-अक्रोध दोनों से परे, अनन्य भाव से अर्थात् अहंकाररहित मेरे शरण हुए बहुत से लोग ज्ञान-तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। अब ऐसा होने लगा हो, ऐसी बात नहीं है। यह विधान सदैव रहा है। बहुत से पुरुष इसी प्रकार से मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। किस प्रकार? जिन-जिन का हृदय अधर्म की वृद्धि देखकर परमात्मा के लिये ग्लानि से भर गया, उस स्थिति में मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ। वे मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं। जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तत्त्वदर्शन कहा था, उसे ही अब 'ज्ञान' कहते हैं। परमतत्त्व है परमात्मा, उसे प्रत्यक्ष दर्शन के साथ जानना ज्ञान है।

ऐसी जानकारी वाले ज्ञानी मेरे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। यहाँ यह प्रश्न पूरा हो गया। अब वे योग्यता के आधार पर भजने वालों की श्रेणी-विभाजन करते हैं-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

पार्थ! जो मुझे जितनी लगन से जैसा भजते हैं, मैं भी उनको वैसा ही भजता हूँ। उतनी ही मात्रा में सहयोग देता हूँ। साधक की श्रद्धा ही कृपा बनकर उसे मिलती है। इस रहस्य को जानकर सुधीजन सम्पूर्ण भाव से मेरे मार्ग के अनुसार ही बरतते हैं। जैसा मैं बरतता हूँ, जो मुझे प्रिय है, वैसा ही आचरण करते हैं। जो मैं कराना चाहता हूँ, वही करते हैं।

भगवान कैसे भजते हैं? वे रथी बनकर खड़े हो जाते हैं, साथ चलने लगते हैं, यही उनका भजना है। दूषित जिनसे पैदा होते हैं, उनका विनाश करने के लिए वे खड़े हो जाते हैं। सत्य में प्रवेश दिलानेवाले सद्‌गुणों का परित्राण करने के लिये वे खड़े हो जाते हैं। जब तक इष्टदेव हृदय से पूर्णतः रथी न हों और हर कदम पर सावधान न करें, तब तक कोई कैसा ही भजनानन्दी क्यों न हो, लाख आँख मूँदे, लाख प्रयत्न करे, वह इस प्रकृति के द्वन्द्व से पार नहीं हो सकता। वह कैसे समझेगा कि हम कितनी दूरी तय कर चुके? कितना शेष है? इष्ट ही आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जाते हैं और उसका मार्गदर्शन करते हैं कि तुम यहाँ पर हो, ऐसे करो, ऐसे चलो। इस प्रकार प्रकृति की खाईं पाटते हुए शनैः-शनैः आगे बढ़ते हुए स्वरूप में प्रवेश दिला देंगे। भजन तो साधक को ही करना पड़ता है; किन्तु उसके द्वारा इस पथ में जो दूरी तय होती है, वह इष्ट की देन है। ऐसा जानकर सभी मनुष्य सर्वतोभावेन मेरा अनुसरण करते हैं। किस प्रकार वे बरतते हैं?-

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

वे पुरुष इस शरीर में कर्मों की सिद्धि चाहते हुए देवताओं को पूजते हैं। कर्म कौन-सा? श्रीकृष्ण ने कहा, ''अर्जुन! तू नियत कर्म कर।'' नियत कर्म

क्या है? यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। यज्ञ क्या है? साधना की विधि-विशेष, जिसमें श्वास-प्रश्वास का हवन, इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमाग्नि में हवन किया जाता है, जिसका परिणाम है परमात्मा। कर्म का शुद्ध अर्थ है आराधना, जिसका स्वरूप इसी अध्याय में आगे मिलेगा। इस आराधना का परिणाम क्या है? **'संसिद्धिम्'**- परमसिद्धि परमात्मा, **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**- शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश, परम नैष्कर्म्य की स्थिति। श्रीकृष्ण कहते हैं - मेरे अनुसार बरतने वाले लोग इस मनुष्य लोक में कर्म के परिणाम परम नैष्कर्म्य सिद्धि के लिये देवताओं को पूजते हैं अर्थात् दैवी सम्पद् को बलवती बनाते हैं।

तीसरे अध्याय में उन्होंने बताया था कि इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं की वृद्धि करो, दैवी सम्पद् को बलवती बनाओ। ज्यों-ज्यों हृदय-देश में दैवी सम्पद् की उन्नति होगी, त्यों-त्यों तुम्हारी उन्नति होगी। इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए परमश्रेय को प्राप्त हो जाओ। अन्त तक उन्नति करते जाने की यह अन्तःक्रिया है। इसी पर बल देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे अनुकूल बरतने वाले लोग इस मनुष्य शरीर में कर्मों की सिद्धि चाहते हुए दैवी सम्पद् को बलवती बनाते हैं, जिससे वह नैष्कर्म्य सिद्धि शीघ्र होती है। वह असफल नहीं होती, सफल ही होती है। शीघ्र का तात्पर्य? क्या कर्म में प्रवृत्त होते ही तत्क्षण यह परमसिद्धि मिल जाती है? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, इस सोपान पर क्रमशः चढ़ने का विधान है। कोई छलांग लगाकर भावातीत ध्यान-जैसा चमत्कार नहीं होता। इस पर देखें-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

अर्जुन! **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**- चार वर्णों की रचना मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बाँट दिया? श्रीकृष्ण कहते हैं-नहीं, **'गुणकर्म विभागशः'**- गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा। गुण एक पैमाना है, मापदण्ड है। तामसी गुण होगा तो आलस्य, निद्रा, प्रमाद, कर्म में न प्रवृत्त होने का स्वभाव, जानते हुए भी अकर्त्तव्य से निवृत्ति न हो पाने की

विवशता रहेगी। ऐसी अवस्था में साधन आरम्भ कैसे करें? दो घण्टे आप आराधना में बैठते हैं, इस कर्म के लिए प्रयत्नशील होना चाहते हैं किन्तु दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाते। शरीर अवश्य बैठा है, लेकिन जिस मन को बैठना चाहिये वह हवा से बातें कर रहा है, कुतर्कों का जाल बुन रहा है। तरंग पर तरंग छायी है, तो आप बैठे क्यों हैं? समय क्यों नष्ट करते हैं? उस समय केवल **'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।'**, जो महापुरुष अव्यक्त की स्थितिवाले हैं, अविनाशी तत्त्व में स्थित हैं, उनकी तथा इस पथ पर अग्रसर अपने से उन्नत लोगों की सेवा में लग जाओ। इससे दूषित संस्कार शमन होते जायेंगे, साधना में प्रवेश दिलानेवाले संस्कार सबल होते जायेंगे।

क्रमशः तामसी गुण न्यून होने पर राजसी गुणों की प्रधानता तथा सात्त्विक गुण के स्वल्प संचार के साथ साधक की क्षमता वैश्य श्रेणी की हो जाती है। उस समय वही साधक इन्द्रिय संयम, आत्मिक सम्पत्ति का संग्रह स्वभावतः करने लगेगा। कर्म करते-करते उसी साधक में सात्त्विक गुणों का बाहुल्य हो जायेगा, राजसी गुण कम रह जायेंगे, तामसी गुण शान्त रहेंगे। उस समय वही साधक क्षत्रिय श्रेणी में प्रवेश पा लेगा। शौर्य, कर्म में प्रवृत्त रहने की क्षमता, पीछे न हटने का स्वभाव, सब भावों पर स्वामीभाव, प्रकृति के तीनों गुणों को काटने की क्षमता उसके स्वभाव में ढल जायेगी। वही कर्म और सूक्ष्म होने पर, मात्र सात्त्विक गुण कार्यरत रह जाने पर मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, एकाग्रता, सरलता, ध्यान, समाधि, ईश्वरीय निर्देश, आस्तिकता इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलाने वाली स्वाभाविक क्षमता के साथ वही साधक ब्राह्मण श्रेणी का कहा जाता है। यह ब्राह्मण श्रेणी के कर्म की निम्नतम सीमा है। जब वही साधक ब्रह्म में स्थित हो जाता है, उस अन्तिम सीमा में वह स्वयं में न ब्राह्मण रहता है न क्षत्रिय, न वैश्य न शूद्र; किन्तु दूसरों के मार्गदर्शनहेतु वही ब्राह्मण है। कर्म एक ही है - नियत कर्म, आराधना। अवस्था-भेद से इसी कर्म को ऊँची-नीची चार सीढ़ियों में बाँटा। किसने बाँटा? किसी योगेश्वर ने बाँटा, अव्यक्त स्थितिवाले महापुरुष ने बाँटा। उसके कर्त्ता मुझ अविनाशी को अकर्त्ता ही जान। क्यों?-

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

क्योंकि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है। कर्मों का फल क्या है? श्रीकृष्ण ने पीछे बताया था कि यज्ञ जिससे पूरा होता है, उस क्रिया का नाम कर्म है और पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी रचना करता है, उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला शाश्वत, सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा लेता है। कर्म का परिणाम है परमात्मा। उस परमात्मा की चाह भी अब मुझे नहीं है; क्योंकि वह मुझसे भिन्न नहीं है। मैं अव्यक्त स्वरूप हूँ, उसी की स्थितिवाला हूँ। अब आगे कोई सत्ता नहीं, जिसके लिए इस कार्य पर स्नेह रखूँ। इसलिये कर्म मुझे लिपायमान नहीं करते और इसी स्तर से जो भी मुझे जानता है अर्थात् जो कर्मों के परिणाम 'परमात्मा' को प्राप्त कर लेता है, उसे भी कर्म नहीं बाँधते। जैसे श्रीकृष्ण, वैसे उस स्तर से जाननेवाला महापुरुष।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

अर्जुन! पहले होनेवाले मोक्ष की इच्छावाले पुरुषों द्वारा भी यही जानकर कर्म किया गया। क्या जानकर? यही कि जब कर्मों का परिणाम परमात्मा भिन्न न रह जाय, कर्मों के परिणाम परमात्मा की स्पृहा न रह जाने पर उस पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। श्रीकृष्ण इसी स्थितिवाले हैं इसलिए वे कर्म में लिपायमान नहीं होते और उसी स्तर से हम जान लेंगे तो हमें भी कर्म नहीं बाँधेगा। जैसा श्रीकृष्ण, ठीक उसी स्तर से जो भी जान लेगा, वैसा ही वह पुरुष भी कर्म- बन्धन से मुक्त हो जायेगा। अब श्रीकृष्ण 'भगवान' , 'महात्मा', 'अव्यक्त', योगेश्वर या महायोगेश्वर जो भी रहे हों, वह स्वरूप सबके लिये है। यही समझकर पहले के मुमुक्षु पुरुषों ने, मोक्ष की इच्छावाले पुरुषों ने कर्म पर कदम रखा। इसलिए अर्जुन! तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये हुए इसी कर्म को कर। यही कल्याण का एकमात्र मार्ग है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कर्म करने पर बल दिया; किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि कर्म क्या है? अध्याय दो में उन्होंने कर्म का नाम मात्र लिया कि अब इसी को तू निष्काम कर्म के विषय में सुन। उसकी विशेषताओं

का वर्णन किया कि यह जन्म-मरण के महान भय से रक्षा करता है। कर्म करते समय सावधानी का वर्णन किया, लेकिन यह नहीं बताया कि कर्म क्या है? अध्याय तीन में उन्होंने कहा कि ज्ञानमार्ग अच्छा लगे या निष्काम कर्मयोग, कर्म तो करना ही पड़ेगा। न कर्मों को त्यागने से कोई ज्ञानी होता है और कर्म को न आरम्भ करने से कोई निष्कर्मी। हठवश जो नहीं करते, वे दम्भी हैं। इसलिए मन से इन्द्रियों को वश में करके कर्म कर। कौन-सा कर्म करे? तो बताया, नियत कर्म कर। अब यह निर्धारित कर्म है कौन? तो बोले, यज्ञ की प्रक्रिया ही नियत कर्म है। एक नवीन प्रश्न दिया कि यज्ञ क्या है, जिसे करें तो कर्म हो जाय? वहाँ भी यज्ञ की उत्पत्ति बताया, उसकी विशेषताओं का वर्णन किया; किन्तु यज्ञ नहीं बताया, जिससे कर्म को समझा जा सके। अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ कि कर्म क्या है? अब कहते हैं कि, अर्जुन! कर्म क्या है, अकर्म क्या है? इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हैं, उसे भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं। इसलिए मैं वह कर्म तेरे लिए अच्छी तरह से कहूँगा, जिसे जानकर तू **'अशुभात् मोक्ष्यसे'**- अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो संसार-बन्धन से मुक्ति दिलाती है। इसी कर्म को जानने के लिए श्रीकृष्ण पुनः बल देते हैं-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, अकर्म का स्वरूप भी समझना चाहिए और विकर्म अर्थात् विकल्पशून्य विशेष कर्म जो आप्तपुरुषों द्वारा होता है, उसे भी जानना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति गहन है। कतिपय लोगों ने विकर्म का अर्थ 'निषिद्ध कर्म', 'मन लगाकर किया गया कर्म' इत्यादि किया है। वस्तुतः यहाँ 'वि' उपसर्ग विशिष्टता का द्योतक है। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों के कर्म विकल्पशून्य होते हैं। आत्मस्थित, आत्मतृप्त,

आप्तकाम महापुरुषों को न तो कर्म करने से कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है, फिर भी वे पीछेवालों के हित के लिए कर्म करते हैं। ऐसा कर्म विकल्पशून्य है, विशुद्ध है और यही कर्म विकर्म कहलाता है।

उदाहरणार्थ गीता में जहाँ भी किसी कार्य में 'वि' उपसर्ग लगा है, उसकी विशेषता का द्योतक है, निकृष्टता का नहीं। यथा **'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।' (गीता ५/७)।** जो योग से युक्त है, वह विशेष रूप से शुद्ध आत्मावाला, विशेष रूप से जीते अन्तःकरणवाला इत्यादि विशेषता के ही द्योतक हैं। इसी प्रकार गीता में स्थान-स्थान पर 'वि' का प्रयोग हुआ है, जो विशेष पूर्णता का द्योतक है। इसी प्रकार 'विकर्म' भी विशिष्ट कर्म का द्योतक है, जो प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों के द्वारा सम्पादित होता है, जो शुभाशुभ संस्कार नहीं डालता। अभी आपने विकर्म देखा। रहा कर्म और अकर्म, जिसे अगले श्लोक में समझने का प्रयास करें। यदि यहाँ कर्म और अकर्म का विभाजन नहीं समझ सके, तो कभी नहीं समझ सकेंगे-

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

जो पुरुष कर्म में अकर्म देखे, कर्म माने आराधना अर्थात् आराधना करे और यह भी समझे कि करनेवाला मैं नहीं हूँ बल्कि गुणों की अवस्था ही चिन्तन में हमें नियुक्त करती है, 'मैं इष्ट द्वारा संचालित हूँ' - ऐसा देखे और जब इस प्रकार अकर्म देखने की क्षमता आ जाय और धारावाहिक रूप से कर्म होता रहे, तभी समझना चाहिए कि कर्म सही दिशा में हो रहा है। वही पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् है, मनुष्यों में योगी है, योग से युक्त बुद्धिवाला है और सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है। उसके द्वारा कर्म करने में लेशमात्र भी त्रुटि नहीं रह जाती।

सारांशतः आराधना ही कर्म है। उस कर्म को करें और करते हुए अकर्म देखें कि मैं तो यन्त्रमात्र हूँ, करानेवाला इष्ट है और मैं गुणों से उत्पन्न अवस्था के अनुसार ही चेष्टा कर पाता हूँ। जब अकर्म की यह क्षमता आ जाय और धारावाहिक कर्म होता रहे, तभी परमकल्याण की स्थिति दिलानेवाला

कर्म हो पाता है। 'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि, ''जब तक इष्ट रथी न हो जाय, रोकथाम न करने लगे, तब तक सही मात्रा में साधना का आरम्भ ही नहीं होता।'' इसके पूर्व जो कुछ भी किया जाता है, कर्म में प्रवेश के प्रयास से अधिक कुछ भी नहीं है। हल का सारा भार बैल के कन्धों पर ही रहता है, फिर भी खेत की जुताई हलवाहे की देन है। ठीक इसी प्रकार साधन का सारा भार साधक के ऊपर ही रहता है; किन्तु वास्तविक साधक तो इष्ट है जो उसके पीछे लगा हुआ है, जो उसका मार्गदर्शन करता है। जब तक इष्ट निर्णय न दें, तब तक आप समझ ही नहीं सकेंगे कि हमसे हुआ क्या? हम प्रकृति में भटक रहे हैं या परमात्मा में? इस प्रकार इष्ट के निर्देशन में जो साधक इस आत्मिक पथ पर अग्रसर होता है, अपने को अकर्त्ता समझकर धारावाहिक कर्म करता है वही बुद्धिमान् है, उसकी जानकारी यथार्थ है, वही योगी है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कर्म करते ही रहेंगे या कभी कर्मों से छुटकारा भी मिलेगा? इस पर योगेश्वर कहते हैं-

श्रीकृष्ण के अनुसार जो कुछ किया जाता है, कर्म नहीं है। कर्म एक निर्धारित की हुई क्रिया है। **'नियतं कुरु कर्म त्वं'**- अर्जुन! तू निर्धारित कर्म को कर। निर्धारित कर्म है क्या? तब बताया, **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'**- यज्ञ को कार्यरूप देना ही कर्म है। तो इसके अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है, क्या वह कर्म नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**- इस यज्ञ को कार्यरूप देने के सिवाय जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है, न कि कर्म। **'तदर्थं कर्म'**- अर्जुन! उस यज्ञ की पूर्ति के लिये भली प्रकार आचरण कर। और जब यज्ञ का स्वरूप बताया, तो वह शुद्ध रूप से आराधना की एक विधि-विशेष है, जो उस आराध्य देव तक पहुँचाकर उसमें विलय दिलाती है।

इस यज्ञ में इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, दैवी सम्पद् का अर्जन इत्यादि बताते हुए अन्त में कहा - बहुत से योगी प्राण और अपान की गति का निरोध करके प्राणायाम के परायण हो जाते हैं। जहाँ न भीतर से संकल्प उठता है और न बाह्य वातावरण का संकल्प मन के अन्दर प्रविष्ट हो पाता है। ऐसी स्थिति में चित्त का सर्वथा निरोध और निरुद्ध चित्त के भी विलयकाल

में वह पुरुष **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**– शाश्वत, सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। यही सब यज्ञ है, जिसे कार्यरूप देने का नाम कर्म है। अतः कर्म का शुद्ध अर्थ है 'आराधना।' कर्म का अर्थ है 'भजन', कर्म का अर्थ है 'योग साधना' को भली प्रकार सम्पादित करना, जिसका विशद वर्णन इसी अध्याय में आगे आ रहा है। यहाँ कर्म और अकर्म का केवल विभाजन किया गया, जिससे कर्म करते समय उसे सही दिशा दी जा सके और उस पर चला जा सके।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अर्जुन! **'यस्य सर्वे समारम्भाः'**– जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया (जिसे पिछले श्लोक में कहा कि, अकर्म देखने की क्षमता आ जाने पर कर्म में प्रवृत्त रहनेवाला पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है। जिसके करने में लेशमात्र भी त्रुटि नहीं है।) **'कामसङ्कल्पवर्जिताः'**– क्रमशः उत्थान होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गई कि वासना और मन के संकल्प- विकल्प से ऊपर उठ गई (कामना और संकल्पों का निरोध होना मन की विजितावस्था है। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो इस मन को कामना और संकल्प-विकल्प से ऊपर उठा देता है।) उस समय **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'**– अन्तिम संकल्प के भी शमन के साथ, जिसे हम नहीं जानते, जिसे जानने के लिए हम इच्छुक थे, उस परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी हो जाती है। क्रियात्मक पथ पर चलकर परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही 'ज्ञान' है। उस ज्ञान के साथ ही **'दग्धकर्माणम्'**– कर्म सदा के लिए दग्ध हो जाते हैं। जिसे पाना था पा लिया, आगे कोई सत्ता नहीं जिसकी शोध करें। इसलिए कर्म करके ढूँढ़े भी तो किसे? उस जानकारी के साथ कर्म की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिवालों को ही बोधस्वरूप महापुरुषों ने 'पण्डित' कहकर सम्बोधित किया है। उनकी जानकारी पूर्ण है। ऐसी स्थितिवाला महापुरुष करता क्या है? रहता कैसे है? उसकी रहनी पर प्रकाश डालते हैं–

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।२०।।

अर्जुन! वह पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित होकर, नित्यवस्तु परमात्मा में ही तृप्त रहकर, कर्मों के फल परमात्मा की आसक्ति को भी त्यागकर (क्योंकि परमात्मा भी अब भिन्न नहीं है) कर्म में अच्छी प्रकार बरतता हुआ भी कुछ नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

जिसने अन्तःकरण और शरीर को जीत लिया है, भोगों की सम्पूर्ण सामग्री जिसने त्याग दी है, ऐसे आशारहित पुरुष का शरीर केवल कर्म करता दिखाई भर पड़ता है। वस्तुतः वह करता-धरता कुछ नहीं, इसलिये पाप को प्राप्त नहीं होता। वह पूर्णत्व को प्राप्त है इसीलिए आवागमन को प्राप्त नहीं होता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

अपने आप जो कुछ भी प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहनेवाला, सुख-दुःख, राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से परे, **'विमत्सरः'**- ईर्ष्यारहित तथा सिद्धि और असिद्धि में समभाववाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बँधता। सिद्धि अर्थात् जिसे पाना था, वह अब भिन्न नहीं है और वह कभी विलग भी नहीं होगा, इसलिए असिद्धि का भी भय नहीं है, इस प्रकार सिद्धि और असिद्धि में समभाववाला पुरुष कर्म करके भी नहीं बँधता। कौन-सा कर्म वह करता है? वही नियत कर्म यज्ञ की प्रक्रिया। इसी को दुहराते हुए कहते हैं-

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अर्जुन! **'यज्ञायाचरतः कर्म'**- यज्ञ का आचरण ही कर्म है और साक्षात्कार का नाम ही ज्ञान है। इस यज्ञ का आचरण करके साक्षात्कार के साथ ज्ञान में स्थित, संगदोष और आसक्ति से रहित मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म भली प्रकार विलीन हो जाते हैं। वे कर्म कोई परिणाम उत्पन्न नहीं कर पाते; क्योंकि कर्मों का फल परमात्मा उनसे भिन्न नहीं रह गया। अब फल में

कौन-सा फल लगेगा? इसलिए उन मुक्त पुरुषों को अपने लिए कर्म की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। फिर भी लोकसंग्रह के लिए वे कर्म करते ही हैं और करते हुए भी वे इन कर्मों में लिप्त नहीं होते। जब करते हैं, तो लिप्त क्यों नहीं होते? इस पर कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

ऐसे मुक्त पुरुष का समर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म ही है अर्थात् ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूपी कर्त्ता द्वारा जो हवन किया जाता है, वह भी ब्रह्म है। **'ब्रह्मकर्म समाधिना'-** जिसके कर्म ब्रह्म का स्पर्श करके समाधिस्थ हो चुके हैं, उसमें विलय हो चुके हैं, ऐसे महापुरुष के लिए जो प्राप्त होने योग्य है वह भी ब्रह्म ही है। वह करता-धरता कुछ नहीं, केवल लोकसंग्रह के लिए कर्म में बरतता है।

यह तो प्राप्तिवाले महापुरुष के लक्षण हैं; किन्तु कर्म में प्रवेश लेने वाले प्रारम्भिक साधक कौन-सा यज्ञ करते हैं?

पिछले अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा था - अर्जुन! कर्म कर। कौन-सा कर्म? उन्होंने बताया, **'नियतं कुरु कर्म'-** निर्धारित किये हुए कर्म को कर। निर्धारित कर्म कौन-सा है? तो **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** (३/९) अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इस यज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है न कि कर्म। कर्म तो संसार-बन्धन से मोक्ष दिलाता है। अतः **'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।'-** उस यज्ञ की पूर्ति के लिए संगदोष से अलग रहकर भली प्रकार यज्ञ का आचरण कर। यहाँ एक नवीन प्रश्न योगेश्वर ने दिया कि वह यज्ञ है क्या, जिसे करें और कर्म हमसे पार लगे? उन्होंने कर्म की विशेषताओं पर बल दिया, बताया कि यज्ञ आया कहाँ से? यज्ञ देता क्या है? उसकी विशेषताओं का चित्रण किया; किन्तु अभी तक यह नहीं बताया था कि यज्ञ है क्या?

अब यहाँ उसी यज्ञ को स्पष्ट करते हैं-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

गतश्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने परमात्मस्थित महापुरुष के यज्ञ का निरूपण किया; किन्तु दूसरे योगी जो अभी उस तत्त्व में स्थित नहीं हुए हैं, क्रिया में प्रवेश करनेवाले हैं, वे आरम्भ कहाँ से करें? इस पर कहते हैं कि दूसरे योगी लोग 'दैवम् यज्ञम्' अर्थात् दैवी सम्पद् को अपने हृदय में बलवती बनाते हैं। जिसके लिए ब्रह्मा का निर्देश था कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग देवताओं की उन्नति करो। ज्यों-ज्यों हृदय-देश में दैवी सम्पद् अर्जित होगी, वही तुम्हारी प्रगति होगी और क्रमशः परस्पर उन्नति करके परमश्रेय को प्राप्त करो। दैवी सम्पद् को हृदय-देश में बलवती बनाना प्रवेशिका श्रेणी के योगियों का यज्ञ है।

वह दैवी सम्पद् अध्याय १६ के आरम्भिक तीन श्लोकों में वर्णित है, जो हैं तो सबमें, केवल महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य समझकर उनकी जागृति करें, उनमें लगें। इन्हीं को इंगित करते हुए योगेश्वर ने कहा कि अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है, तू मुझमें निवास करेगा, मेरे ही शाश्वत स्वरूप को प्राप्त करेगा; क्योंकि यह दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिये ही है और इसके विपरीत आसुरी सम्पद् नीच और अधम योनियों का कारण है। इसी आसुरी सम्पद् का हवन होने लगता है इसलिये यह यज्ञ है और यहीं से यज्ञ का आरम्भ है।

दूसरे योगी **'ब्रह्माग्नौ'**- परब्रह्म परमात्मरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। श्रीकृष्ण ने आगे बताया कि इस शरीर में अधियज्ञ मैं हूँ। यज्ञों का अधिष्ठाता अर्थात् यज्ञ जिसमें विलय होते हैं, वह पुरुष मैं हूँ। श्रीकृष्ण एक योगी थे, सद्गुरु थे। इस प्रकार दूसरे योगीजन ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ अर्थात् यज्ञस्वरूप सद्गुरु को उद्देश्य बनाकर यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, सारांशतः सद्गुरु के स्वरूप का ध्यान करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अन्य योगीजन श्रोत्रादिक (श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, जिह्वा और नासिका) सब इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से समेटकर संयत कर लेते हैं। यहाँ आग नहीं जलती। जैसे अग्नि में डालने से हर वस्तु भस्मसात् हो जाती है, ठीक इसी प्रकार संयम भी एक अग्नि है, जो इन्द्रियों के सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवाह को दग्ध कर देता है। दूसरे योगी लोग शब्दादिक (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् उनका आशय बदलकर साधनापरक बना लेते हैं।

साधक को संसार में रहकर ही तो भजन करना है। सांसारिक लोगों के भले-बुरे शब्द उससे टकराते ही रहते हैं। विषयोत्तेजक ऐसे शब्दों को सुनते ही साधक उनके आशय को योग, वैराग्य सहायक, वैराग्योत्तेजक भावों में बदलकर इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देते हैं। जैसा कि एक बार अर्जुन अपने चिन्तन में रत था, अकस्मात् उसके कर्ण-कुहरों में संगीत-लहरी झनझना उठी। उसने सिर उठाकर देखा तो उर्वशी खड़ी थी, जो एक वेश्या थी। सभी उसके रूप पर मुग्ध हो झूम रहे थे; किन्तु अर्जुन ने उसे स्नेहिल दृष्टि से मातृवत् देखा। उस शब्द, रूप से मिलने वाले विकार विलीन हो गए। इन्द्रियों के अन्तराल में ही समाहित हो गये।

यहाँ इन्द्रिय ही अग्नि है। अग्नि में डाली हुई वस्तु जैसे भस्मसात् हो जाती है, उसी प्रकार आशय बदलकर इष्ट के अनुकूल ढाल लेने पर विषयोत्तेजक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द भी भस्म हो जाते हैं, साधक पर कुप्रभाव नहीं डाल पाते। साधक इन शब्दादिकों में रुचि नहीं लेता, इन्हें ग्रहण नहीं करता।

इन श्लोकों में 'अपरे', 'अन्ये' शब्द एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थायें हैं। एक ही यज्ञकर्त्ता का ऊँचा-नीचा स्तर है, न कि 'अपरे', 'अपरे' कहने से कोई अलग-अलग यज्ञ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अभी तक योगेश्वर ने जिस यज्ञ की चर्चा की, उसमें क्रमशः दैवी सम्पद् को अर्जित किया जाता है, इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं का संयम किया जाता है, बलात् विषयोत्तेजक शब्दादिकों के टकराने पर भी उनका आशय बदलकर उनसे बचा जाता है। इससे उन्नत अवस्था होने पर दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं तथा प्राण के व्यापार को साक्षात्कार सहित ज्ञान से प्रकाशित परमात्मस्थितिरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। जब संयम की पकड़ आत्मा के साथ तद्रूप हो जाती है, प्राण और इन्द्रियों का व्यापार भी शान्त हो जाता है, उस समय विषयों को उद्दीप्त करनेवाली और इष्ट में प्रवृत्ति दिलाने वाली दोनों धाराएँ आत्मसात् हो जाती हैं। परमात्मा में स्थिति मिल जाती है। यज्ञ का परिणाम निकल जाता है। यह है यज्ञ की पराकाष्ठा। जिस परमात्मा को पाना था, उसी में स्थिति आ गई तो शेष क्या रहा? पुनः योगेश्वर श्रीकृष्ण यज्ञ को भली प्रकार समझाते हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अनेक लोग द्रव्ययज्ञ करते हैं अर्थात् आत्मपथ में, महापुरुषों की सेवा में पत्र-पुष्प अर्पण करते हैं। वे समर्पण के साथ महापुरुषों की सेवा में द्रव्य लगाते हैं। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि भक्तिभाव से पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ भी मुझे देता है, उसे मैं खाता हूँ और उसका परमकल्याण-सृजन करने वाला होता हूँ। यह भी यज्ञ है। हर आत्मा की सेवा करना, भूले हुए को आत्मपथ पर लाना द्रव्ययज्ञ है; क्योंकि प्राकृतिक संस्कारों को जलाने में समर्थ है।

इसी प्रकार कई पुरुष **'तपोयज्ञाः'**- स्वधर्म पालन में इन्द्रियों को तपाते हैं अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुसार यज्ञ की निम्न और उन्नत अवस्थाओं के बीच तपते हैं। इसी पथ की अल्पज्ञता में पहली श्रेणी का साधक शूद्र परिचर्या द्वारा, वैश्य दैवी सम्पद् के संग्रह द्वारा, क्षत्रिय काम-क्रोधादि के उन्मूलन द्वारा और ब्राह्मण ब्रह्म में प्रवेश की योग्यता के स्तर से इन्द्रियों को तपाता है। सबको एक-जैसा परिश्रम करना पड़ता है।

वास्तव में यज्ञ एक ही है। अवस्था के अनुसार ऊँची-नीची श्रेणियाँ गुजरती जाती हैं।

'पूज्य महाराज जी' कहते थे - ''मनसहित इन्द्रियों और शरीर को लक्ष्य के अनुरूप तपाना ही तप कहलाता है। ये लक्ष्य से दूर भागेंगे, इन्हें समेटकर उधर ही लगाओ।''

अनेक पुरुष योगयज्ञ का आचरण करते हैं। प्रकृति में भटकती हुई आत्मा का प्रकृति से परे परमात्मा से मिलन का नाम 'योग' है। योग की परिभाषा अध्याय ६/२३ में द्रष्टव्य है। सामान्यतः दो वस्तुओं का मिलन योग कहलाता है। कागज से कलम मिल गया, थाली और मेज मिल गए तो क्या योग हो गया? नहीं, ये तो पंचभूतों से निर्मित पदार्थ हैं। एक ही हैं, दो कहाँ? दो प्रकृति और पुरुष हैं। प्रकृति में स्थित आत्मा अपने ही शाश्वत रूप परमात्मा में प्रवेश पा जाता है तो प्रकृति पुरुष में विलीन हो जाती है। यही योग है। अतः अनेक पुरुष इस मिलन में सहायक शम, दम इत्यादि नियमों का भली प्रकार आचरण करते हैं। योगयज्ञ करनेवाले तथा अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष **'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च'**- स्वयं का अध्ययन, स्व-रूप का अध्ययन करनेवाले ज्ञानयज्ञ के कर्त्ता हैं। यहाँ योग के अंगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से निर्दिष्ट किया गया है। अनेक लोग स्वाध्याय करते हैं। पुस्तक पढ़ना तो स्वाध्याय का आरम्भिक स्तर मात्र है। विशुद्ध स्वाध्याय है स्वयं का अध्ययन, जिससे स्वरूप की उपलब्धि होती है, जिसका परिणाम है ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार।

यज्ञ का अगला चरण बताते हैं-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

बहुत से योगी अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं और उसी प्रकार प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं। इससे सूक्ष्म अवस्था हो जाने पर अन्य योगीजन प्राण और अपान दोनों की गति रोककर प्राणायाम परायण हो जाते हैं।

जिसे श्रीकृष्ण प्राण-अपान कहते हैं, उसी को महात्मा बुद्ध 'अनापान' कहते हैं। इसी को उन्होंने श्वास-प्रश्वास भी कहा है। प्राण वह श्वास है जिसे आप भीतर खींचते हैं और अपान वह श्वास है जिसे आप बाहर छोड़ते हैं। योगियों की अनुभूति है कि आप श्वास के साथ बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भी ग्रहण करते हैं और प्रश्वास में इसी प्रकार आन्तरिक भले-बुरे चिन्तन की लहर फेंकते रहते हैं। बाह्य किसी संकल्प का ग्रहण न करना प्राण का हवन है तथा भीतर संकल्पों को न उठने देना अपान का हवन है। न भीतर से किसी संकल्प का स्फुरण हो और न ही बाह्य दुनिया में चलनेवाले चिन्तन अन्दर क्षोभ उत्पन्न कर पायें। इस प्रकार प्राण और अपान दोनों की गति सम हो जाने पर प्राणों का याम अर्थात् निरोध हो जाता है, यही प्राणायाम है। यह मन की विजितावस्था है। प्राणों का रुकना और मन का रुकना एक ही बात है।

प्रत्येक महापुरुष ने इस प्रकरण को लिया है। वेदों में इसका उल्लेख है- **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'- (ऋग्वेद १/१६४/४५, अथर्ववेद ९/१५/२७)** इसी को 'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे - ''हो! एक ही नाम चार श्रेणियों से जपा जाता है - बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। बैखरी उसे कहते हैं, जो व्यक्त हो जाये। नाम का इस प्रकार उच्चारण हो कि आप सुनें और बाहर कोई बैठा हो तो उसे भी सुनाई पड़े। मध्यमा अर्थात् मध्यम स्वर में जप, जिसे केवल आप ही सुनें, बगल में बैठा हुआ व्यक्ति भी उस उच्चारण को सुन न सके। यह उच्चारण कण्ठ से होता है। धीरे-धीरे नाम की धुन बन जाती है, डोर लग जाती है। साधना और सूक्ष्म हो जाने पर पश्यन्ती अर्थात् नाम देखने की अवस्था आ जाती है, फिर नाम को जपा नहीं जाता। यही नाम श्वास में ढल जाता है। मन को द्रष्टा बनाकर खड़ा कर दें, देखते भर रहें कि साँस कहती क्या है? साँस आती है कब? बाहर निकलती है कब? कहती है क्या?'' महापुरुषों का कहना है कि यह साँस नाम के सिवाय और कुछ कहती ही नहीं। साधक नाम का जप नहीं करता, केवल उससे उठनेवाली धुन को सुनता है, साँस को देखता भर है इसलिए इसे 'पश्यन्ती' कहते हैं।

पश्यन्ती में मन को द्रष्टा के रूप में खड़ा करना पड़ता है; किन्तु साधन और उन्नत हो जाने पर सुनना भी नहीं पड़ता। एक बार सुरत लगा भर दें,

स्वतः सुनाई देगा। **'जपै न जपावै, अपने से आवै।'**- न स्वयं जपो, न मन को सुनने के लिए बाध्य करो और जप चलता रहे, इसी का नाम है अजपा। ऐसा नहीं कि जप प्रारम्भ ही न करें और आ गई अजपा। यदि किसी ने जप नहीं आरंभ किया, तो अजपा नाम की कोई भी वस्तु उसके पास नहीं होगी। अजपा का अर्थ है, हम न जपें, किन्तु जप हमारा साथ न छोड़े। एक बार सुरत का काँटा लगा भर दें तो जप प्रवाहित हो जाय और अनवरत चलता रहे। इस स्वाभाविक जप का नाम है अजपा और यही है 'परावाणी का जप'। यह प्रकृति से परे तत्त्व परमात्मा में प्रवेश दिलाती है। इसके आगे वाणी में कोई परिवर्तन नहीं है। परम का दिग्दर्शन कराके उसी में विलीन हो जाती है, इसलिये इसे परा कहते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने केवल श्वास पर ध्यान रखने को कहा, जबकि आगे स्वयं ओम् के जप पर बल देते हैं। गौतम बुद्ध भी 'अनापान सती' में श्वास-प्रश्वास की ही चर्चा करते हैं। अन्ततः वे महापुरुष कहना क्या चाहते हैं? वस्तुतः प्रारम्भ में बैखरी, उससे मध्यमा और इससे उन्नत होने पर जप की पश्यन्ती अवस्था में श्वास पकड़ में आता है। उस समय जप तो श्वास में ढला मिलेगा, फिर जपें क्या? फिर तो केवल श्वास को देखना भर है। इसलिये प्राण-अपान मात्र कहा, 'नाम जपो' - ऐसा नहीं कहा, कारण कि कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि कहते हैं, तो गुमराह होकर नीचे की श्रेणियों में चक्कर काटने लगेगा। महात्मा बुद्ध, 'गुरुदेव भगवान' तथा प्रत्येक महापुरुष जो इस रास्ते से गुजरे हैं, सभी एक ही बात कहते हैं। बैखरी और मध्यमा नाम-जप के प्रवेश द्वार मात्र हैं। पश्यन्ती से ही नाम में प्रवेश मिलता है। परा में नाम धारावाही हो जाता है, जिससे जप साथ नहीं छोड़ता।

मन श्वास के साथ जुड़ा है। जब श्वास पर दृष्टि है, श्वास में नाम ढल चुका है, भीतर से न तो किसी संकल्प का उत्थान है और न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं, यही मन पर विजय की अवस्था है। इसी के साथ यज्ञ का परिणाम निकल आता है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

दूसरे नियमित आहार करनेवाले प्राण को प्राण में ही हवन करते हैं। 'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि, ''योगी का आहार दृढ़, आसन दृढ़ और निद्रा दृढ़ होनी चाहिए।'' आहार-विहार पर नियंत्रण बहुत आवश्यक है। ऐसे अनेक योगी प्राण को प्राण में ही हवन कर देते हैं अर्थात् श्वास लेने पर ही ध्यान केन्द्रित रखते हैं, प्रश्वास पर ध्यान नहीं देते। साँस आई तो सुना 'ओम्', पुनः साँस आई तो 'ओम्' सुनते रहें। इस प्रकार यज्ञों द्वारा नष्ट पापवाले ये सभी पुरुष यज्ञ के जानकार हैं। इन निर्दिष्ट विधियों में से यदि कहीं से भी करते हैं तो वे सभी यज्ञ के ज्ञाता हैं। अब यज्ञ का परिणाम बताते हैं-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! **'यज्ञशिष्टामृतभुजो'**- यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, जिसे अवशेष छोड़ता है, वह है अमृत। उसकी प्रत्यक्ष जानकारी ज्ञान है। उस ज्ञानामृत को भोगने अर्थात् प्राप्त करनेवाले योगीजन **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**- शाश्वत सनातन परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ कोई ऐसी वस्तु है, जो पूर्ण होते ही सनातन परब्रह्म में प्रवेश दिला देती है। यज्ञ न करें, तो आपत्ति क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष को पुनः यह मनुष्यलोक अर्थात् मानव-शरीर भी सुलभ नहीं होता, फिर अन्य लोक कैसे सुखदायी होंगे? उसके लिए तो तिर्यक् योनियाँ सुरक्षित हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। अतः यज्ञ करना मनुष्य मात्र के लिए नितान्त आवश्यक है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

इस प्रकार उपर्युक्त बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में कहे गये हैं, ब्रह्म के मुख से विस्तारित हैं। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों के शरीर को परब्रह्म धारण कर लेता है। ब्रह्म से अभिन्न अवस्थावाले उन महात्माओं की बुद्धि मात्र यन्त्र होती है। उनके द्वारा वह ब्रह्म ही बोलता है। उनकी वाणी में इन यज्ञों का विस्तार किया गया है।

इन सब यज्ञों को तू **'कर्मजान् विद्धि'**- कर्म से उत्पन्न हुआ जान। यही पहले भी कह आये हैं, **'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' (३/१४)**। उन्हें इस प्रकार क्रियात्मक चलकर जान लेने पर (अभी बताया था, यज्ञ करके जिनका पाप नष्ट हो चुका हो, वही यज्ञ के यथार्थ ज्ञाता हैं) अर्जुन! तू **'विमोक्ष्यसे'**- संसार-बन्धन से पूर्णतः छूट जायेगा। यहाँ योगेश्वर ने कर्म स्पष्ट कर दिया। वह हरकत कर्म है, जिससे उपर्युक्त यज्ञ पूर्ण होते हैं।

अब यदि दैवी सम्पद् का अर्जन, सद्गुरु का ध्यान, इन्द्रियों का संयम, श्वास का प्रश्वास में हवन, प्रश्वास का श्वास में हवन, प्राण-अपान की गति का निरोध खेती करने से होता हो, व्यापार-नौकरी या राजनीति करने से होता हो तो आप करिये। यज्ञ तो ऐसी क्रिया है, जो पूर्ण होते ही तत्क्षण परब्रह्म में प्रवेश दिला देती है। बाह्य किसी भी कार्य से आप तत्क्षण ब्रह्म में प्रवेश पा जाते हों तो कीजिए।

वस्तुतः यह सब-के-सब यज्ञ चिन्तन की अन्तःक्रियाएँ हैं, आराधना का चित्रण है, जिससे आराध्य देव विदित होता है। यज्ञ उस आराध्य तक की दूरी तय करने की निर्धारित प्रक्रिया विशेष है। यह यज्ञ श्वास-प्रश्वास, प्राणायाम इत्यादि जिस क्रिया से सम्पन्न होते हैं, उस कार्य-प्रणाली का नाम कर्म है। कर्म का शुद्ध अर्थ है, 'आराधना', 'चिन्तन'।

प्रायः लोग कहते हैं कि संसार में कुछ भी किया जाय, हो गया कर्म। कामना से रहित होकर कुछ भी करते जाओ, हो गया निष्काम कर्मयोग। कोई कहता है कि अधिक लाभ के लिए विदेशी वस्त्र बेचते हैं, तो आप सकामी हैं। देश-सेवा के लिए स्वदेशी बेचें, तो हो गया निष्काम कर्मयोग। निष्ठापूर्वक नौकरी करें, हानि-लाभ की चिन्ता से मुक्त होकर व्यापार करें, हो गया निष्काम कर्मयोग। जय-पराजय की भावना से मुक्त हो युद्ध करें, चुनाव लड़ें, हो गये निष्कर्मी। मरोगे तो मुक्ति हो जायेगी। वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि इस निष्काम कर्म में निर्धारित क्रिया एक ही है - **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।'** अर्जुन! तू निर्धारित कर्म को कर। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। यज्ञ क्या है?

श्वास-प्रश्वास का हवन, इन्द्रियों का संयम, यज्ञस्वरूप महापुरुष का ध्यान, प्राणायाम - प्राणों का निरोध। यही मन की विजितावस्था है। मन का ही प्रसार जगत् है। श्रीकृष्ण के ही शब्दों में, **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' (५/१९)-** उन पुरुषों द्वारा चराचर जगत् यहीं जीत लिया गया, जिसका मन समत्व में स्थित है। भला मन के समत्व और जगत् के जीतने से क्या सम्बन्ध है? यदि जगत् को जीत ही लिया तो रुका कहाँ पर? तब कहते हैं, वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर मन भी निर्दोष और समत्व की स्थितिवाला हो गया, अतः वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

सारांशतः मन का प्रसार ही जगत् है। चराचर जगत् ही हवन-सामग्री के रूप में है। मन के सर्वथा निरोध होते ही जगत् का निरोध हो जाता है। मन के निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है। यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस ज्ञानामृत का पान करने वाला पुरुष सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। यह सभी यज्ञ ब्रह्मस्थित महापुरुषों की वाणी द्वारा कहे गये हैं। ऐसा नहीं कि अलग-अलग सम्प्रदायों के साधक अलग-अलग प्रकार के यज्ञ करते हैं, बल्कि ये सभी यज्ञ एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। यह यज्ञ जिससे होने लगे, उस क्रिया का नाम कर्म है। सम्पूर्ण गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है, जो सांसारिक कार्य-व्यापारों का समर्थन करता हो।

प्रायः यज्ञ का नाम आने पर लोग बाहर एक यज्ञ-वेदी बनाकर तिल, जौ लेकर 'स्वाहा' बोलते हुए हवन प्रारम्भ कर देते हैं। यह एक धोखा है। द्रव्ययज्ञ दूसरा है, जिसे श्रीकृष्ण ने कई बार कहा। किन्तु पशुबलि, वस्तु-दाह इत्यादि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अर्जुन! सांसारिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ [जिसका परिणाम ज्ञान (साक्षात्कार) है, यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस अमृत तत्त्व की जानकारी का नाम ज्ञान है, ऐसा यज्ञ] श्रेयस्कर है, परमकल्याणकारी है। हे पार्थ! सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में शेष हो जाते हैं। **'परिसमाप्यते'-** भली प्रकार समाहित हो जाते हैं। ज्ञान यज्ञ की पराकाष्ठा

है। उसके पश्चात् कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ देने से उस महापुरुष की कोई क्षति ही होती है।

इस प्रकार भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ भी यज्ञ हैं; किन्तु उस यज्ञ की तुलना में, जिसका परिणाम साक्षात्कार है, उस ज्ञानयज्ञ की अपेक्षा अत्यन्त अल्प हैं। आप करोड़ों का हवन करें, सैकड़ों यज्ञवेदी बना लें, सत्पथ पर द्रव्य लगावें, साधु-सन्त-महापुरुषों की सेवा में द्रव्य लगावें; किन्तु इस ज्ञानयज्ञ की अपेक्षा अत्यन्त अल्प हैं। वस्तुतः यज्ञ श्वास-प्रश्वास का है, इन्द्रियों के संयम का है, मन के निरोध का है, जैसा श्रीकृष्ण अभी बता आये हैं। इस यज्ञ को प्राप्त कहाँ से किया जाय? उसकी विधि कहाँ से सीखें? मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों में मिलेगा या पुस्तकों में? तीर्थयात्राओं में मिलेगा या स्नान करने से मिलेगा? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, उसका तो एक ही स्रोत है तत्त्वस्थित महापुरुष, यथा-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

इसलिये अर्जुन! तू तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर भली प्रकार प्रणत होकर (दण्डवत्-प्रणाम करके, अहंकार त्यागकर, शरण होकर) भली प्रकार सेवा करके, निष्कपट भाव से प्रश्न करके तू उस ज्ञान को जान। वे तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन तेरे लिए उस ज्ञान का उपदेश करेंगे, साधना-पथ पर चलायेंगे। समर्पित भाव से सेवा करने के उपरान्त ही इस ज्ञान को सीखने की क्षमता आती है। तत्त्वदर्शी महापुरुष परमतत्त्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन करनेवाले हैं। वे यज्ञ की विधि-विशेष के ज्ञाता हैं और वही आपको भी सिखायेंगे। यदि अन्य यज्ञ होता, तो ज्ञानी-तत्त्वदर्शी की क्या आवश्यकता थी?

स्वयं भगवान के सामने ही तो अर्जुन खड़ा था। भगवान उसे तत्त्वदर्शी के पास क्यों भेजते हैं? वस्तुतः श्रीकृष्ण एक योगी थे। उनका आशय है कि आज तो अनुरागी अर्जुन मेरे समक्ष उपस्थित है, भविष्य में अनुरागियों को कहीं भ्रम न हो जाय कि श्रीकृष्ण तो चले गये, अब किसकी शरण जायँ? इसलिए उन्होंने स्पष्ट किया कि तत्त्वदर्शी के पास जाओ। वे ज्ञानीजन तुझे

उपदेश करेंगे। और-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

उस ज्ञान को उनके द्वारा समझकर तू इस प्रकार फिर कभी मोह को प्राप्त नहीं होगा। उनसे दी गई जानकारी के द्वारा उस पर चलते हुए तू अपनी आत्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूतों को देखेगा अर्थात् सभी प्राणियों में इसी आत्मा का प्रसार देखेगा। जब सर्वत्र एक ही आत्मा के प्रसार को देखने की क्षमता आ जायेगी, उसके पश्चात् तू मुझमें प्रवेश करेगा। अतः उस परमात्मा को पाने का साधन 'तत्त्वस्थित महापुरुष' के द्वारा है। ज्ञान के सम्बन्ध में, धर्म और शाश्वत सत्य के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के अनुसार किसी तत्त्वदर्शी से ही पूछने का विधान है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।३६।।

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, तब भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा सभी पापों से निःसन्देह भली प्रकार तर जायेगा। इसका आशय आप यह न लगा लें कि अधिक से अधिक पाप करके कभी भी तर जायेंगे। श्रीकृष्ण का आशय मात्र यही है कि कहीं आप भ्रम में न रहें कि 'हम तो बड़े पापी हैं', 'हमसे पार नहीं लगेगा'- ऐसी कोई गुंजाइश न निकालें इसलिए श्रीकृष्ण प्रोत्साहन और आश्वासन देते हैं कि सब पापियों के पापों के समूह से भी अधिक पाप करनेवाला हो, फिर भी तत्त्वदर्शियों से प्राप्त ज्ञानरूपी नौका द्वारा तू निःसन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार पार कर जायेगा। किस प्रकार?-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है। यह ज्ञान की प्रवेशिका नहीं है, जहाँ से यज्ञ में प्रवेश मिलता है वरन् यह ज्ञान अर्थात्

साक्षात्कार की पराकाष्ठा का चित्रण है, जिसमें पहले विजातीय कर्म भस्म होते हैं और फिर प्राप्ति के साथ चिन्तन-कर्म भी उसी में विलय हो जाते हैं। जिसे पाना था पा लिया, अब आगे चिन्तन कर किसे ढूँढ़े? ऐसा साक्षात्कारवाला ज्ञानी सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का अन्त कर लेगा। वह साक्षात्कार होगा कहाँ? बाहर होगा अथवा भीतर? इस पर कहते हैं-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। इस ज्ञान (साक्षात्कार) को तू स्वयं (दूसरा नहीं) योग की परिपक्व अवस्था में (आरम्भ में नहीं) अपनी आत्मा के अन्तर्गत हृदय-देश में ही अनुभव करेगा, बाहर नहीं। इस ज्ञान के लिए कौन-सी योग्यता अपेक्षित है? योगेश्वर के ही शब्दों में-

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

श्रद्धावान्, तत्पर तथा संयतेन्द्रिय पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है। भावपूर्वक जिज्ञासा नहीं है, तो तत्त्वदर्शी की शरण जाने पर भी ज्ञान नहीं प्राप्त होता। केवल श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है। श्रद्धावान् शिथिल प्रयत्न भी हो सकता है। अतः महापुरुष द्वारा निर्दिष्ट पथ पर तत्परता से अग्रसर होने की लगन आवश्यक है। इसके साथ ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम अनिवार्य है। जो वासनाओं से विरत नहीं है, उसके लिए साक्षात्कार (ज्ञान की प्राप्ति) कठिन है। केवल श्रद्धावान्, आचरणरत संयतेन्द्रिय पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त कर वह तत्क्षण परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है, जिसके पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। यही अन्तिम शान्ति है। फिर वह कभी अशान्त नहीं होता। और जहाँ श्रद्धा नहीं है-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अज्ञानी, जो यज्ञ की विधि-विशेष से अनभिज्ञ है एवं श्रद्धारहित तथा संशययुक्त पुरुष इस परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है। उनमें भी संशययुक्त

पुरुष के लिए न तो सुख है, न पुनः मनुष्य शरीर है और न परमात्मा ही। अतः तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर इस पथ के संशयों का निवारण कर लेना चाहिए अन्यथा वे वस्तु का परिचय कभी नहीं पायेंगे। फिर पाता कौन है?-

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।४१।।

जिसके कर्म योग द्वारा भगवान में समाहित हो चुके हैं, जिसका सम्पूर्ण संशय परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी द्वारा नष्ट हो गया है, परमात्मा से संयुक्त ऐसे पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। योग के द्वारा ही कर्मों का शमन होगा। ज्ञान से ही संशय नष्ट होगा। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं-

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

इसलिए भरतवंशी अर्जुन! तू योग में स्थित हो और अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय में स्थित अपने इस संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काट। युद्ध के लिए खड़ा हो। जब साक्षात्कार में बाधक संशयरूपी शत्रु मन के भीतर है, तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? वस्तुतः जब आप चिन्तन-पथ पर अग्रसर होते हैं, तब संशय से उत्पन्न बाह्य प्रवृत्तियाँ बाधा के रूप में स्वाभाविक हैं। ये शत्रु के रूप में भयंकर आक्रमण करती हैं। संयम के साथ यज्ञ की विधि-विशेष का आचरण करते हुए इन विकारों का पार पाना ही युद्ध है, जिसका परिणाम परम शान्ति है। यही अन्तिम विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है।

निष्कर्ष–

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि इस योग को आरम्भ में मैंने सूर्य के प्रति कहा। सूर्य ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा और राजर्षियों ने जाना। मैंने अथवा अव्यक्त स्थितिवाले ने कहा। महापुरुष भी अव्यक्त स्वरूपवाला ही है। शरीर तो उसके रहने का मकान मात्र है। ऐसे महापुरुष की वाणी में परमात्मा ही प्रवाहित होता है। ऐसे किसी

महापुरुष से योग सूर्य द्वारा संचारित होता है। उस परम प्रकाश रूप का प्रसार सुरा के अन्तराल में होता है इसलिये सूर्य के प्रति कहा। श्वास में संचारित होकर वे संस्कार रूप में आ गये। सुरा में संचित रहने पर, समय आने पर वही मन में संकल्प बनकर आ जाता है। उसकी महत्ता समझने पर मन में उस वाक्य के प्रति इच्छा जागृत होती है और योग कार्यरूप ले लेता है। क्रमशः उत्थान करते-करते यह योग ऋद्धियों-सिद्धियों की राजर्षित्व श्रेणी तक पहुँचने पर नष्ट होने की स्थिति में जा पहुँचता है; किन्तु जो प्रिय भक्त है, अनन्य सखा है, उसे महापुरुष ही सँभाल लेते हैं।

अर्जुन के प्रश्न करने पर कि आपका जन्म तो अब हुआ है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अव्यक्त, अविनाशी, अजन्मा और सम्पूर्ण भूतों में प्रवाहित होने पर भी आत्ममाया, योग-प्रक्रिया द्वारा अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को वश में करके मैं प्रकट होता हूँ। प्रकट होकर करते क्या हैं? साध्य वस्तुओं को परित्राण देने तथा जिनसे दूषित उत्पन्न होते हैं उनका विनाश करने के लिये, परमधर्म परमात्मा को स्थिर करने के लिये मैं आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त पैदा होता हूँ। मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य है। उसे केवल तत्त्वदर्शी ही जान पाते हैं। भगवान का आविर्भाव तो कलियुग की अवस्था से ही हो जाता है, यदि सच्ची लगन हो; किन्तु आरम्भिक साधक समझ ही नहीं पाता कि यह भगवान बोल रहे हैं या यों ही संकेत मिल रहे हैं। आकाश से कौन बोलता है? 'महाराज जी' बताते थे कि जब भगवान कृपा करते हैं, आत्मा से रथी हो जाते हैं तो खम्भे से, वृक्ष से, पत्ते से, शून्य से हर स्थान से बोलते और सँभालते हैं। उत्थान होते-होते जब परमतत्त्व परमात्मा विदित हो जाय, तभी स्पर्श के साथ ही वह स्पष्ट समझ पाता है। इसलिये अर्जुन! मेरे उस स्वरूप को तत्त्वदर्शियों ने देखा और मुझे जानकर वे तत्क्षण मुझमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं, जहाँ से पुनः आवागमन में नहीं आते।

इस प्रकार उन्होंने भगवान के आविर्भाव की विधि बताया कि वह किसी अनुरागी के हृदय में होता है, बाहर कदापि नहीं। श्रीकृष्ण ने बताया कि मुझे कर्म नहीं बाँधते और इस स्तर से जो जानता है, उसे भी कर्म नहीं

बाँधते। यही समझकर मुमुक्षु पुरुषों ने कर्म का आरम्भ किया था कि उस स्तर से जानेंगे तो जैसे श्रीकृष्ण, वैसा ही उस स्तर से जाननेवाला वह पुरुष, और जान लेने पर वैसा ही वह मुमुक्षु अर्जुन। यह उपलब्धि निश्चित है, यदि यज्ञ किया जाय। यज्ञ का स्वरूप बताया। यज्ञ का परिणाम परमतत्त्व, परमशान्ति बताया। इस ज्ञान को पाया कहाँ जाय? इस पर किसी तत्त्वदर्शी के पास जाने और उन्हीं विधियों से पेश आने को कहा, जिससे वे महापुरुष अनुकूल हो जायँ।

योगेश्वर ने स्पष्ट किया कि वह ज्ञान तू स्वयं आचरण करके पायेगा। दूसरे के आचरण से तुझे नहीं मिलेगा। वह भी योग की सिद्धि के काल में प्राप्त होगा, प्रारम्भ में नहीं। वह ज्ञान (साक्षात्कार) हृदय-देश में होगा, बाहर नहीं। श्रद्धालु, तत्पर, संयतेन्द्रिय एवं संशयरहित पुरुष ही इसे प्राप्त करता है। अतः हृदय में स्थित अपने संशय को वैराग्य की तलवार से काट। यह हृदय-देश की लड़ाई है। बाह्य युद्ध से गीतोक्त युद्ध का कोई प्रयोजन नहीं है।

इस अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने मुख्य रूप से यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट किया और बताया कि यज्ञ जिससे पूरा होता है, उसे करने (कार्य-प्रणाली) का नाम कर्म है। कर्म को भली प्रकार इसी अध्याय में स्पष्ट किया, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'यज्ञकर्मस्पष्टीकरणम्' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'यज्ञकर्म स्पष्टीकरण' नामक चौथा अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'यज्ञकर्मस्पष्टीकरणम्' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।